'दिनकर की डायरी' साहित्य

डॉ0 नरेन्द्र प्रकाश राय*

डायरी में मानव के निगूढ़ अंतरात्मा का निच्छल उद्घाटन होता है। व्यक्ति के मन की गहराईयों में चलने वाला अन्तर्मन्थन और वैचारिक उहापोह अगर कहीं स्पष्ट रूप से बोलता है तो डायरी के पन्नों में। डायरी आत्मा के अन्तःपुर की आवृत्ति है। लेखक दिनकर का व्यक्तित्व विरोधी भावों का पूज्य रहा है, भले ही उसकी हम अंगारों पर उगा हुआ इन्द्रधनुष कह डाले अथवा शूल पर हंसती हुयी शबनम की संज्ञा दें। 'दिनकर की डायरी' की लेखक ने डायरी और जर्नल का मिश्रण कहा है। डायरी और जर्नल का अन्तर यह है कि प्रथम अपेक्षातया अधिक वैयक्तिक होता है जबकि द्वितीय अपेक्षाकृत तटस्थ होता है। परन्तु जो हो दोनों कही न कहीं आत्म कथा के ही प्रकार हैं। आत्मकथा के विषय में 'दिनकर' जी की धारण उन्हीं के शब्दों में, मुझे लगता है, अगर मैंने आत्म कथा लिखी, तो वह भी आत्म प्रशंसा से भरी होगी[1] और इस स्वयं के विश्लेषण के बाद इसके आत्म–चरित्रात्मक रूप पर कुछ कहना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

दिनकर की डायरी के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य और संदर्भ–

क. दिनकर की व्यक्तिगत जीवन–

'डायरी के इन पृष्ठों में 'दिनकर' केवल ओज, वेग और विक्रम के कवि के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते उनके मन में अनेक शंका, लोभ, मोह और धूप छाँह भी अपने ताने बाने बुनती हुई स्पष्ट हुयी है। कहीं पर गर्व की चुनौती से तना हुआ भाव है तो कहीं समझौते के लिए आगे बढ़ा हुआ हाथ भी है। कहीं ललका और जय–जयकार का गगन भेदी घोष है तो कहीं पाश्चात्य का घोर विश्वास भी है। इसमें अगर देखा जाय तो चांद की रूपहली चांदनी ही नहीं अपितु काले धब्बे भी हैं। इस डायरी में दिनकर का व्यक्तिगत जीवन काफी प्रकट– प्रत्यक्ष हुआ है किन्तु यह कहना व्यर्थ होगा कि उसमें सारे मुखौटे उतार दिए गए हैं या मन का नितान्त निवारण रूप में उपस्थित किया गया है दिनकर अपने परिजनी के लिए सदा चिंति रहते थे। इस डायरी से झलकता नहीं है कि वैयक्तिक विकास में लीन रहकर भी उन्होंने परिवार को कभी विस्तृत नहीं किया। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि फिर यह भी था कि मेरा सारा ध्यान पूरे परिवार पर केन्द्रित तथा अतएव अपनी पत्नी को और मैं ध्यान ही नहीं दे सका।[2] अतः परिवार के बोझ को उन्होंने योग्यतापूर्वक ढोया। प्रकाशन के पूर्व दिनकर ने डायरी को दुबारा देखा है और बहुत कुछ काट छाँट दिया। है। परन्तु इतना होने पर भी श्री रामधारी सिंह दिनकर की सम्पूर्ण रूप से समझने का इसके अलाव कोई भी साधन नहीं है। इस डायरी में प्रथम प्रविष्टि सन् 1961 के 2 जनवरी की है और अन्तिम प्रविष्टि 22 दिसम्बर 1972 की है। प्रायः बारह वर्षों के इस सुदीर्घ अन्तराल में दिनकर राज्य सभा के सदस्य रहे, भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति रहे, भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार रहे और अन्तिम दो वर्षों में कार्य निवृत्त होकर देश के कोने–कोने में हिन्दी को निरन्तर जगाते हुए घूमते रहे। भागपुर के कुलपति के रूप में रहने की कोई प्रविष्टि इस डायरी में नहीं है। ये बारह वर्ष दिनकर के जीवन के महत्वपूर्ण वर्ष रहे है। इनमें जहाँ स्मृति के रूप में अतीत कालीन जीवन की अनेक घटनाएँ उल्लिखित हो गयी है वहाँ योना के रूप में अगले और अन्तिम सोलह महीनों के जीवन का भावी पैटर्न भी निर्धारित होता है। इस डायरी में दिनकर के अनुज्जवल पक्ष को भी अनेक झलकियाँ हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है, दिनकर के दो दोष लिखता हूँ। वह भागती हुयी नौकरी की दांत से पकड़ रहा है।[3] पद छूटने की निराशा और पद पाने की आशा इस डायरी में सर्वत्र है। उनकी दूसरी

* रीडर–हिन्दी विभाग, ला0ब0शा0पी0जी0 कॉलेज, मुगलसराय

कमजोरी कमजोरी नारियाँ जान पड़ती है। चित्र की बाबा मुक्तानन्द के चरणों में बाँध दिया है। किन्तु जीवन में आयी हुयी नारियाँ मन के घूमती रहती है।[4]

'दिनकर' जी का दिल्ली प्रवास सन् 1952 से प्रारम्भ होता है और अगले बीस वर्ष उन्होंने दिल्ली में ही व्यतीत किए। डायरी का युग दिनकर के दिल्ली प्रवास का उत्तरार्द्ध है। उन्होंने भारत के इस रेशमी नगर के प्रति अपने आक्रोश को व्यक्त करते हुए कहा गया :

दिल्ली आह, कलंक देश के,
दिल्ली आह, ग्लानि की भाषा
दिल्ली आह, मरण पौरूष का,
दिल्ली छिन्न–भिन्न अभिलाषा।

परन्तु भाग्य में यहीं लिखा था कि 'दिनकर' ने अपने जीवन का मध्यार्द्ध दिल्ली में ही देखे। यहाँ पर वे तपे, चमके, संसद और कवि सम्मेलनों के मंच पर गरजे, हिन्दी विरोधियों और राष्ट्र द्रोहियों पर बरसे और देखते–देखते राष्ट्र के साहित्यकार शायर पूरे तौर से छा गये। दिल्ली में ही उनकी लेखनी से यह पंक्ति निकली, उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं। दिल्ली ने दिनकर को केवल यश, प्रभाव और वर्चस्व ही नहीं प्रदान किया अपितु एक सुख–सुविधा सम्पन्न जीवन जीने का अवसर भी प्रदान भी किया। भारत सरकार ने उन्हें भारतीय शिष्ट मंडलों का नेता बनाकर रूस और पोलैण्ड भेजा, रूसी भाषा में उनकी कविताएँ प्रकाशित हुयी और कई रूसी विश्वविद्यालयों पर उनके विषय में शोध होने लगा। चार वर्ष में चौबीस ट्रान्सफर भुगतान वाले सब रजिस्ट्रार का जीवन केवल नियंत्रित ही नहीं हुआ अपितु सुख और सुविधा से सुसज्जित होने लगा। प्रत्येक संध्या किसी न किसी दूतावास से भोज का निमन्त्रण मिलता। दिल्ली के उद्योग पतियों और सामन्तों में भी अनेक साहित्य सुरूचि सम्पन्न लोग थे जिन्होंने दिनकर की सर आँखों पर लिया। सिमरिया के किसान का बेटा, जो अपने बचपन से भैंस चरा चुका था, दिल्ली में आकर स्वयं तो श्रीमन्त नहीं बन गया परन्तु श्रीमन्तों का जीवन अवश्य जीने लगा। कभी रमाजैन जिलेवी खाने के लिए बुलाती तो कभी लंच के लिए मोहन लालजलान की पार्टी में जाते, कभी आलोक के साथ अली अकबर खाँ का सरोद सुनते तो कभी शारदा के साथ संगीत सम्मेलन में मुर्धेश्वर की आंसुरी और बिलायत खाँ का सितार। देश–विदेश से आने वाले कवियों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों से मिलने और विचार विनिमय करने के अवसर निरन्तर मिलते रहते थे। सभी भारतीय भाषाओं के मूर्धन्यों का समागम दिल्ली में हुआ करता था। तमिल कवि उपन्यासकार विश्वनाथ, सत्यनारायण, मराठी नाटककार मामा वरेरकर, गुजराती कवि उमाशंकर जोशी मलीहावादी से उनका अत्यन्त आत्मीय सम्बन्ध हो गया था। उद्योगपतियों में त्रयांस प्रसाद शान्ति प्रसाद जैन, रामानाथ गोयनका, चरतराम आदि में वे समानता के स्तर पर मिलते थे।

'दिनकर' को राज्यसभा के दो 'टर्म' प्राप्त हो गये थे परन्तु दूसरे टर्म के अन्तिम वर्ष में वे भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति बनकर के वहाँ पर चले गये। भागलपुर का 'काँटी का ताल वे अधिक दिनों तक धारण नहीं कर सके और त्यागपत्र देकर पुनः दिल्ली में भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार बन गए। यह पद भी सेक्रेटरी से ऊपर राज्य मंत्री के स्तर का था। 1971 की जून तक वे इस पद पर बने रहे। 'दिनकर' चाहते थे कि उन्हें एक्सटेंशन मिल जाए, परन्तु कई कारणों से यह सम्भव नहीं हो सका। इसका एक प्रमुख कारण हिन्दी जगत् की आन्तरिक राजनीति भी थी। 19 जून 1971 को दिनकर पदमुक्त होकर पटना चले गए परन्तु उनका मन दिल्ली में ही रह गये। यह नौकरी नहीं छोटी सी बादशाहत थी। कई मजे मंत्रियों वाले और चिन्ता उतनी भी नहीं जितनी मंत्री की होती है। नौकरी छूटने के साथ हो दिल्ली भी छूट गयी जो 'दिनकर' के स्वप्नों का स्वर्ग था।

'दिनकर' के ये वर्ष असामान्य पारिवारिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, कुण्ठा और हताशा के वर्ष थे। दीर्घकाल तक चलने वाले गृहकलह ने उन्हें घोर क्लान्त परिभ्रान्त कर दिया था। गृह कलह की दास से

भस्म हो रहा हूँ, रक्त चाप रोज चढ़ता है, रात में नींद नहीं आती। रह–रहकर कमरे से बाहर निकलकर टहलने लगता हूँ, तब भी शान्ति नहीं मिलती। 12 अप्रैल 1967 की उनके ज्येष्ठ पुत्र राम सेवक सिंह की मृत्यु तो उन पर वज्रपात की तरह हुयी। वे अपने पीछे विधवा पत्नी और पाँच अनाथ बच्चों का भार 'दिनकर' पर छोड़ गए। जिनमें तीन कुआरीं लड़कियाँ भी थी। 'जवानी भाइयों की सेवा में गयी, बुढ़ापा पोते–पोतियों की सेवा में जायेगा..... मेरी जिन्दगी आरम्भ से अन्त तक संघर्षों की एक कड़ी बन गयी। अपनी पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण 'दिनकर' ऐसी हालत में नहीं थे कि कार्य निवृत्त होकर निर्द्वन्द्व जीवन बीता सकें। परन्तु नौकरी छूटने की व्यथा केवल आर्थिक नहीं थी उसने कहीं गहरे जाकर 'दिनकर' की अस्मिता पर प्रहार किया था। उन्होंने कई बार क्षुब्ध होकर के त्यागपत्र देने की बात सोची थी परन्तु वे नौकरी नहीं छोड़ सके और आखिर नौकरी ने ही उन्हें छोड़ दिया। उन्होंने सोचा वह अहंकार भगवान ने तोड़ दिया, अब नौकर छोड़ने का दुःख क्यों होना चाहिए? इस समय की उनकी मनःस्थिति का अच्छा प्रकाश पटना की दो प्रविष्टियाँ स्पष्ट करती हैं:

'नौकरी छूटने से कई आराम छूट गए, पर चलता है,

जीवन ठीक चल रहा है, अपनी नींद सोना, अपनी नींद जागना। कुछ भी लिखने में जल्दी नहीं करना 'प्रोग्राम पश्चिम जाने की है तो पूरब की ओर चल देना, जीवन मस्ती का है। मगर अनाथ पोतियों की चिन्ता बनी रहती है।

'दिनकर' के मन में राज्य सभा में जाने का लोभ बना हुआ था। श्री ललित नारायण मिश्र से उन्हें आश्वासन भी मिला था गवर्नरी के लिए भी उनके हितैषी प्रयास कर रहे थे। द्वारका प्रसाद मिश्र ने जबलपुर और रीवां का गुलपतित्व आफर किया था। परन्तु भागलपुर से जले हुए 'दिनकर' ने उसे भी छोड़ दिया। यहाँ तक कि उस पर विचार भी नहीं किए। बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की अध्यक्षता का निमंत्रण इसलिए अस्वीकार कर दिया कि वहाँ पहले से कार्य कर रहे सुधांशु जी को हटाना पड़ता। पटना में अपना मन रमाने का 'दिनकर' ने काफी प्रयास किया परन्तु पटना अब उनके लिए छोटा हो गया था अथवा वे स्वयं पटना के लिए बहुत बड़े हो गये थे। इस मनःस्थिति में उन्होंने दिल्ली और पटना की तुलना कई स्थानों पर की है।

'फ्रांस के प्रदेश पेरिस से हर विषय में चालीस साल पीछे रहते हैं। यही बात दिल्ली और पटना के विषय में कही जा सकती है। दिल्ली में नया ज्ञान बाहर से चलकर पहले पहुँचता है।

पुनः 'दिनकर' ने सन् 1952 में जब दिल्ली में प्रवेश किया तो वे राज्य सभा के माननीय सदस्य थे। उनकी प्रबल हिन्दी निष्ठा से बिदकते हुए भी नेहरू जी ने उन्हें ऊँचा उठाया और आगे बढ़ाया था। एक बार मंत्री पद उन्हें अपनी पकड़ में आता हुआ दिखायी पड़ा परन्तु वे अंततः इसको पा नहीं सके। उन्होंने पहली बार एक ऐसी चाह की थी जो पूरी नहीं हो सकी। भागलपुर का कुलपतित्व भी उन्हें रास नहीं आया और प्रशासन की पकड़ बन्दी में उनका पढ़ना और लिखना भी छूट गया फिर जब वे दिल्ली में आए तो उनकी नौकरी चाहे बादशाह की ही क्यों न हो आखिर काल थी। नौकरी ही दिनकर को दिल्ली दरबार में रहकर के अगर खुशामद नहीं तो कुछ ठुकुर सुहाती तो करनी ही पड़ी, हुजूर को खुश किए बिना कोई दरबार में रह ही नहीं सकता है।

'इन्दिरा गाँधी जी के सभी गाँवों को ताड़ा, पिछली मुलाकात की याद की मन ने यही गवाही दी कि वे रूष्ट नहीं होंगी।

'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' का बज्रघोष करने वाले 'दिनकर' के लिए अपने प्रभुओं के तेवर को तौलना कुछ कम कष्टकर नहीं था। अपना पौरूष भूल गया है।[5] सामान्य कवि अथवा कलाकार इस जहर की घूँट को पी सकता था परन्तु 'दिनकर' ने तो मनीषी धर्म अपनाया था। जनता चाहती थी कि मनीषी ऐसा हो कि वह राजा और प्रजा दोनों को डाँट सके। परन्तु इसके निर्वाह के लिए सुविधा और सुरक्षा की राह को छोड़ना अति अनिवार्य है। जो सुख और सुविधा से सन्धि करते हैं उन्हें

मजबूर होकर ऐसा समझौता करना पड़ता है जो भीतर से उन्हें तोड़ डालते हैं। इसके बाद वे जीते तो रहते हैं परन्तु उनका स्व मर जाता है। जब सत्ताधारियों ने कलम की हल्की सी हरकत से 'दिनकर' ऐसे लेखक को हरा दिया तो एक बार उन्हें जाँचने और परखने का अवसर मिला। 'दिनकर' के विषय में दुविधा यह थी कि न तो वे मनीषी धर्म को छोड़ने के लिए तैयार थे और न ही अपनी सुख और सुविधाओं की। वे राजा और प्रजा दोनों को एक साथ साधे रहना चाहते थे। परन्तु जीवन की इस मोड़ पर आकर उन्हें लगा कि सत्ता की सर्वोपरिता के समक्ष उनकी सारी साहित्य साधना हेय है। यह नहीं है कि अपनी दुर्बलता को वे अनुभव नहीं करते हों परन्तु वह जन पर हावी हो गयी थी। एक बार संतोष सन्धु ने उनसे कहा कि आप, एअर कण्डिशन पोएट हो गए हो तो दिनकर ने जवाब दिया कि हाँ कविताएँ भी ठण्डी लिखने हूँ। सामान्य जन्य के प्रति उनका लगाव अब शिथिल हो गया था। हाँ इस बात से अवश्य सहमत थे कि कभी–कभी बड़ों की महफिलों का तिरस्कार करके छुटभैयों की महफिल में जाना चाहिए। जब उनको लगा कि मनीषी धर्म का निर्वाह भी नहीं हो सका और जीवन की इस साध्य बेला में सुरक्षा का कगार भी छूट गया तो उनका टूटना अनिवार्य हो गया। जिस ऊँची जिन्दगी की चाह वह छोड़ नहीं पा रहे थे, उसी के कारण उनके दिल से आह निकल रही थी। गरीबी को वे बहुत भले थे परन्तु उसके जीने की कला को वे भूल गए थे। इसी मूल के कारण उर्वशी के महामहिम कवि को 'हरि को हरिनाम' की कविताएँ लिखनी पड़ी।

संदर्भ :

[1] श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', दिनकर की डायरी, उदयाचल पटना, पृ0 195
[2] वही, पृ0 250
[3] वही, पृ0 200
[4] वही, पृ0 224
[5] वही, पृ0 200